साहित्य क्यों?*

अशोक वाजपेयी**

हमारा समय बेहद हिंसक है–संयुक्त राष्ट्र संघ की एक रिपोर्ट के अनुसार इस समय दुनिया में सौ के लगभग युद्ध, बगावत, सैन्य विद्रोह आदि चल रहे हैं। प्रायः सभी धर्म आक्रामक और हिंसक हो रहे हैं–वे दूसरों की क्या अपनी ही बहुलता के प्रति असहिष्णु हो गए हैं। चाहे वो बाज़ार की हिंसा हो, आतंक या उग्रवाद की हिंसा हो। राजनीति और आर्थिकी भी आक्रामक मुद्राएँ अपना रही हैं। बाज़ार पर एकाग्र आर्थिकी कई प्रकार की तानाशाही को, उपभोक्तावाद और लोभ की तानाशाही, एकरूपता की तानाशाही को पाल-पोस रही है। एक ऐसी व्यवस्था का एकाधिकार जिसमें दुनिया विचारों से नहीं चीज़ों से बदल रही है। मनुष्य के दो महान आविष्कार 'व्यक्ति' और 'समाज' लोप के कगार पर हैं।

हमारे युग में राज्य, राजनीति और आर्थिकी के उच्चतम स्तरों पर झूठ बोला जा रहा है। सच की प्रकृति और स्थिति हमारे समय में समयबद्ध है और वह अत्यंत द्विधाग्रस्त हो गई है। सच का पालन एक शिथिल पड़ती आदत है और निजी तथा सार्वजनिक जीवन में ऐसे प्रलोभन बढ़ गए हैं जो सच के साथ से विरत करते हैं। एकांत के लिए, स्वप्न के लिए, कल्पना के लिए आकाश सिकुड़ रहा है। अधिकाधिक लोग अपनी मातृ-भाषाओं से वंचित हो रहे हैं तथा अपनी जातीय स्मृतियाँ और सांस्कृतिक जड़ें खो रहे हैं। प्रस्तुत व्याख्यान इस जटिल संदर्भ में साहित्य की ज़रूरत पर विचार करेगा।

यह तो मानना ही पड़ेगा कि ऐसे बहुत सारे लोग हैं और हमारे समाज में ऐसे बहुसंख्यक होंगे जिनका काम और जीवन साहित्य के बिना बखूबी चल जाता है और इस कारण उन्हें कोई हानि होती है, ऐसा कोई अहसास उन्हें नहीं होता।

*प्रस्तुत आलेख मार्जरी साइक्स चतुर्थ स्मृति व्याख्यान 2010 के अवसर पर अशोक वाजपेयी द्वारा दिये गये संभाषण का लिखित रूप है। यह संभाषण 23 अगस्त 2010 को क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान अजमेर में दिया गया और इसे एनसीईआरटी द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है।

**श्री वाजपेयी इन दिनों ललित कला अकादमी (राष्ट्रीय कला संस्थान, संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार, नयी दिल्ली) के अध्यक्ष हैं।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनके जीने में कोई सघनता और सार्थकता नहीं होती। कम-से-कम हिंदी समाज में साहित्य के अध्यापन की जो हालत है और उसके रहते एक बड़ी विडंबना यह है कि जो लोग एम.ए. स्तर तक साहित्य पढ़ते हैं इनमें से अधिकांश अपना अध्ययन समाप्त होने के बाद साहित्य से संबंध तोड़ लेते हैं और उनकी साहित्य में आगे कोई रुचि नहीं रह जाती। अगर ऐसा न होता तो हिंदी साहित्य कम-से-कम उच्च स्तर के अतिरिक्त पाँच हजार पाठक या रसिक हर वर्ष पा सकता था। इसलिए कुल मिलाकर हमारे यहाँ साहित्य एक अल्पसंख्यक मामला है। पर इससे पहले कि हम साहित्य के औचित्य पर कुछ विचार करें यह समझना ज़रूरी है कि जिस समय में यानि हमारे समय में, हम विचार कर रहे हैं, वह है कैसा?

हमारा समय मनुष्य के इतिहास में संभवत: सबसे हिंसक समय है। इक्कीसवीं सदी के पहले दशक में सारे संसार में जितनी हिंसा फैली है उतनी बीसवीं सदी के पहले दशक में कतई नहीं थी और न ही उसके आखिरी दशक में। संयुक्त राष्ट्र संघ की एक रिपोर्ट यह बताती है कि बकायदा युद्ध के अलावा, जिसमें अफ़गानिस्तान, मध्यपूर्व और यूरोप के कई देश शामिल हैं, बगावत, सैन्य विद्रोह, सशस्त्र प्रतिरोध आदि को मिलाकर सौ से अधिक गृह युद्ध चल रहे हैं। हमारे देश में ही कश्मीर, उत्तर-पूर्व और नक्सल प्रभावित हिस्से अशांत और लगभग रोज़ाना हिंसा की लपेट में हैं। हमारे समय की एक बड़ी विडंबना यह है कि भूमण्डलीकृत समय सबसे हिंसक समय है। यह हिंसा निजी या सैन्य या पुलिस या विद्रोहियों की सशस्त्र हिंसा तक सीमित नहीं है। बल्कि इसका आयत बढ़ता ही जा रहा है—मनोरंजन, फ़ैशन, खेलकूद, मीडिया आदि सभी इन दिनों आक्रामक हो उठे हैं—ये सभी विधाएँ तथाकथित 'किलर इंस्टिक्ट' याने जानमारू भावना से प्रेरित हैं और उसे स्वीकार करने में उन्हें कोई संकोच तक नहीं है। धीरे-धीरे सभी धर्म-हिंसा और आक्रामकता की ओर बढ़ते जा रहे हैं। यह बढ़त अब दूसरे धर्मों के प्रति असहिष्णुता और हिंसा तक पहुँच चुकी है। उनमें से ज़्यादातर न सिर्फ़ धार्मिक बहुलता के प्रति बल्कि स्वयं अपनी बहुलता के प्रति, जो सदियों से उनका महत्वपूर्ण पक्ष रही है, असहिष्णु हो चुके हैं। भारत में हिंदुत्व और ज़िहादी इस्लाम दोनों ही इसके उदाहरण हैं। धर्मों का बहुलता से अपसरण एक बेहद खतरनाक विकास है और इससे समूचे संसार की सांस्कृतिक बहुलता की क्षति हो रही है।

भारतीय समाज में स्त्रियों और दलितों के प्रति हिंसा जगज़ाहिर है। हमें सांप्रदायिक से लेकर आतंकवादी हिंसा का लगातार शिकार होना पड़ रहा है। अपराध, घूसखोरी, चालबाज़ी, धूर्तता और मक्कारी को एक तरह की सामाजिक मान्यता मिलने लगी है। ये सभी हिंसा के प्रकार हैं। सभी जानते हैं कि कितनी बड़ी संख्या में हमारे विधायकों और सांसदों में ऐसे लोग हैं जिनका अपराधों का रिकॉर्ड है। बाज़ार की बढ़ती हिंसा भी इस कदर व्यापक हो चुकी है कि हम उसको नज़रअंदाज़ नहीं कर सकते। धन-दौलत की

हिंसा का एक दैनंदिन उदाहरण यह है कि हर दिन कुछ लोग धनाढ्यों या नवधनाढ्यों की तेज़ भागती गाड़ियों से कुचले जाते हैं। दुर्भाग्य से मीडिया हिंसा और अपराध को हमारे ध्यान के केंद्र में लाने की अथक कोशिश करता रहता है।

इस समय संसार हिंसा के अलावा झूठ के आधिपत्य में भी है। थोड़ी अतिशयोक्ति कर कहा जा सकता है कि हमारा समय झूठ की दिग्विजय का समय है। ईराक पर दो महाशक्तियों ने जो सैन्य आक्रमण किया था उसका कारण बताया था कि उस देश के पास व्यापक नाश करने वाले हथियारों का भंडार है। यह दावा संसार की उन महाशक्तियों के राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री ने किया था। ईराक को तहस-नहस किए और उस पर कब्ज़ा किए इतने बरस हो गये और आज तक एक भी ऐसा हथियार, खुर्दबीन से खोजने के बाद भी नहीं मिला। हमारे यहाँ गुजरात में अल्पसंख्यकों का नरसंहार भी ऐसे ही झूठ बोलकर किया गया। दुखद यह है कि इस नरसंहार के लिए ज़िम्मेदार लोगों को आज तक सज़ा नहीं मिली है–उन पर ठीक से मुकदमे तक नहीं चल पा रहे हैं। अजब तमाशा यह है कि नेता, अभिनेता और खिलाड़ी, जिन्हें हमारे समाज का असली नायक बना दिया गया है, रोज़ झूठ बोलते हैं और उनमें से किसी का बाल भी बाँका नहीं हो पाता। हमारे राष्ट्र का आप्तवाक्य भले 'सत्यमेव जयते' है, पर हर स्तर पर झूठ ही जीतता नज़र आ रहा है। कुछ ऐसा माहौल बन गया है कि जो झूठ नहीं बोल सकता वह समाज में दयनीय, हास्यास्पद या अप्रासंगिक सा हो रहा है।

कहा जाता है कि अब हम विश्वग्राम में रहते हैं–सही तो यह है कि हम एक विश्वमंडी में ढकेल दिए गए हैं। यह और बात है कि ऐसे ढकेले जाना हमारा अपना चुनाव भी है। सब कुछ पड़ोस में आ गया है–संचार, संवाद और यातायात के माध्यम इतने बढ़ और तेज़ हो गए हैं कि कोई भी देश किसी देश से दूर नहीं रह गया है। विडंबना यह है कि स्वयं हमारा पड़ोस लगभग गायब हो चुका है। अब हम पड़ोस या मुहल्ले में नहीं कॉलोनी में रहते हैं और हमें इसकी खबर तक कई बार नहीं होती कि अगल-बगल कौन रहते या क्या करते हैं? एक दु:खद स्मृति यह भी है कि गुजरात के नरसंहार में पड़ोसियों की बड़ी सक्रिय भूमिका थी और उन्होंने ही हत्यारे लोगों को जानकारी दी कि कौन-सा मकान या दुकान किसी अल्पसंख्यक की थी।

गालिब ने उन्नीसवीं सदी में कहा था—'बाज़ीच-ए-अत्फ़ाल है दुनिया मेरे आगे, होता है शब-ओ-रोज़ तमाशा मेरे आगे'। तब वह शायद उतना सच नहीं था जितना कि आज है। सारी दुनिया को तमाशा बनाया जा रहा है और हममें से अधिकांश सिर्फ़ तमाशबीन बनकर रह गए या रह जाएँगे। हम कुछ करेंगे नहीं, सिर्फ़ देखेंगे। यह विश्वव्यापी निरुपायता का भी समय है। जो हो रहा है उसमें शामिल होने या उसे बेचारगी के साथ देखने के अलावा कोई विकल्प नहीं है। यह दावा किया जा रहा है कि विकल्पों का युग बीत चुका–हमारा समय निर्विकल्प समय है। यह निरुपायता हमें सपने देखने से भी रोकती है,

विकल्प खोजने से विरत करती है। दुनिया को बदलने और बेहतर करने के कई तरीके हो सकते हैं या होने चाहिए यह बात पीछे ढकेल दी गई है। समता, स्वतंत्रता और न्याय के जो क्रांतिकारी मूल्य और लक्ष्य थे उनसे हम अपसरण कर चुके हैं। पुराना वर्ग विभाजन भी अब अप्रासंगिक हो गया है क्योंकि नया वर्ग विभाजन सिर्फ़ बनाने वाले, बेचने वाले और खरीदने वाले को मान्यता देता है। बाज़ार ने समाज को अपदस्थ कर दिया है। अब तो राजनैतिक दल और सत्ताएँ अपने घोषणापत्रों में निस्संकोच यह लिखते हैं कि वे बाज़ार को क्या सुविधाएँ देंगे–अक्सर ये सुविधाएँ व्यापक समाज को दी जाने वाली सुविधाओं से कहीं अधिक और खर्चीली होती हैं।

उनकी अन्य जो भी उपलब्धियाँ रही हों और वे इतनी कम भी नहीं है। हम एक ऐसे मोड़ पर पहुँच गए हैं कि हम इस दु:खद सच्चाई से इनकार नहीं कर सकते कि अधिक समतामूलक, अधिक स्वतंत्र, अधिक न्यायसंगत, अधिक मानवीय और अधिक शोषणमुक्त दुनिया बनाने में राजनीति, धर्म और विज्ञान सफल नहीं हुए हैं। राजनीति आज प्रबंधन की विधा है और उसका मूल्यों से कोई संबंध नहीं रह गया है। धर्म स्वयं अपने अध्यात्म से विमुख हो चुके हैं। विज्ञान अपने दायित्व-बोध से च्युत हो चुका है। पहले लगता था कि कम-से-कम हिंदी के संदर्भ में, राज समाज के बजाय अधिक बढ़ रहा है। अब लगता है कि राज और समाज दोनों ही बाज़ार के आगे समान रूप से निरुपाय हो चुके हैं। 'व्यक्ति' और 'समाज' मानवता के दो क्रांतिकारी आविष्कार और अवधारणाएँ रही हैं। वे भी अब लोप के कगार पर हैं। खान-पान, पहनावे, मनोरंजन, भाषा, मुद्राओं और भंगिमाओं आदि में इस कदर एकरूपता आ रही है कि लगता है कि सारी राजनैतिक और आर्थिक विभिन्नताओं के बावजूद या कि उनके ऊपर एकसेपन की एक तानाशाही इस समय विश्वव्यापी हो चुकी है। इंटरनेट आदि के माध्यम से अंग्रेज़ी का एक नया साम्राज्यवाद फल-फूल रहा है और संसार की सैकड़ों मातृभाषाएँ और उनमें निबद्ध जातीय स्मृतियाँ लुप्त होने की ओर बढ़ रही हैं। सेलफ़ोन आदि की सुविधा हो जाने से हम लगातार बहुत बात कर रहे हैं, एक नई संवादरति पैदा हो गई है। लेकिन हममें से अधिकांश इसकी मिसाल भर हैं कि 'बोले तो बहुत लेकिन कहा क्या?'। अधिकांश लोग इस बतकही के बावजूद दरअसल बहुत कम शब्दों का इस्तेमाल करते हैं। यह शब्द-संकोच हमारी सच्चाई पर पकड़ को ढीला कर रहा है। जिसके पास शब्द कम होते हैं उसके पास मानवीयता और दुनिया के अहसास भी कम होते हैं।

इधर चीज़ों का उत्पादन और सुलभता बहुत बढ़ी है। यह बाज़ार का स्वार्थ ही सही, उपहार है। हमारे घर, विशेषत: मध्यवर्गीय घर, चीज़ों के गोदाम होते जा रहे हैं। पहले दुनिया विचारों से बदलती है ऐसा माना जाता था। अब यह मान्यता व्याप रही है कि दुनिया चीज़ों की बहुतायत से बदल जाएगी। हमारे सपने तक बहुत हद तक चीज़ों के सपने हो गये हैं। चीज़ें हमें सच्चाई और सपनों दोनों ही राहों से लूटपाट, हड़प और लोभ-लालच की नयी संस्कृति के दायरे में

खींच रही हैं। विचार की उतनी अवमानना जितनी हमारे समय में हो रही है पहले कभी नहीं हुई थी। इतना ही नहीं धीरे-धीरे हमारे जीवन में एकांत की जगह और ज़रूरत कम हो रही है। हम अकेले पड़ जाने से घबराने लगे हैं। हमें अब शायद यह याद भी नहीं आता कि जिन लोगों ने दुनिया को बदलने के सपने देखे, क्रांतिकारी विचार और आविष्कार दिए वे सब अकेले थे, मार्क्स, गांधी, आइंस्टाइन आदि। एक तरह की विचित्र समाजहीन सामुदायिकता बढ़ रही है और यह प्रार्थना का नहीं बेसुरे कीर्तन का समय है जिसमें अपना सुर मिलाना कई बार हमारी मजबूरी बन रहा है। अब गठबंधन सिर्फ़ राजनीति में ही नहीं है–सत्ता और धर्म, सत्ता और बाज़ार, सत्ता और विज्ञान, सत्ता और मनोरंजन आदि इस समय गठबंधनों की बहुतायत के ही रूप हैं। मुक्तिबोध के शब्द याद करते हुए कहा जा सकता है कि हमारा समय अन्त:करण के आयतन के संक्षिप्त होते जाने का समय है। वह ऐसा भी है जिसमें अतिरेक और अतिक्रमण का एक पूरा शास्त्र ही विकसित और लागू किया गया है। मर्यादाओं का अतिक्रमण अब दैनिक घटना है जिस पर एतराज़ उठाने तक की फ़ुरसत हमारे पास इस तेज़ी से भागते समय में नहीं रह गयी है। सारी अधिकार-चेतना के बावजूद हमारा समय बेजा कब्ज़े का समय है।

हमारे समय का एक बड़ा अंतर्विरोध यह है कि कहा तो यह जा रहा है और किसी हद तक सही है कि यह सदी एशिया की होने जा रही है जिसमें चीन और भारत की केंद्रीय उपस्थिति और भूमिका होगी पर सच तो यह भी है कि इस बीच पश्चिम ने अपने को पूरे विश्व में केंद्रीय बना लिया है। इस हद तक कि उसका पंचांग अब विश्व-पंचांग हो गया है और बाकी सब पंचांग–जिनसे अब भी भारत में और अन्यत्र लोकजीवन चलता है, पीछे छूट रहे हैं। पहले संसार में बहुसमयता थी और अब वह एकसमयता में फँस रहा है। दूसरे, जो एशिया ऊपर रहा है उसका आदर्श अंतत: पश्चिम ही है। यहाँ राजनैतिक व्यवस्था, सत्ता, बाज़ार, मनोरंजन, शिक्षा आदि सब धीरे-धीरे पश्चिमी ही हो रहे हैं या हो गए हैं। इसलिए हमारा समय पश्चिमी समय है जबकि, याद करें, बीसवीं सदी का पहला दशक इस कदर पश्चिमी समय नहीं था।

यह नक्शा कुछ और आगे बढ़ाया जा सकता है लेकिन इतना काफ़ी होना चाहिए यह जताने के लिए कि हमारा समय किस तरह की चिंताओं, उलझनों, विडंबनाओं और कठिनाइयों से भरा समय है। यह इतना जटिल भी है कि उसे सामान्यीकृत या सरलीकृत करना कठिन है। यों तो संख्या के मान से पिछली सदी में मनुष्य के ज्ञात इतिहास में सबसे अधिक लोग बेघरबार हुए और यह क्रम पूरी आक्रामकता के साथ चालू सदी में भी चल रहा है। यह तो हुई भूगोल में शरणार्थी होने की दारुणता। पर उससे कम दर्दनाक नहीं है हमारा भारत में ज्ञान, विचार, आचार आदि में भी शरणार्थी हो जाना–हम अपने से ही पराये हो चुके हैं। हमने जो समानांतर विधियाँ और सारणियाँ इन क्षेत्रों और अनुशासनों में विन्यस्त और विकसित की थीं, उन्हें हमने ही अप्रासंगिक

मान लिया है। उनका कोई दबाव या महत्त्व सोच-विचार और जिज्ञासा के क्षेत्रों में दिखाई नहीं देता है—अगर है तो बहुत क्षीण। कई बार तो इसलिए कि पश्चिम ने उसमें कुछ दिलचस्पी दिखाई है।

संक्षेप में कहें तो हमारे समय में राजनीति का विघटन प्रबंधन में, धर्म का उन्माद में, सौंदर्य का ग्लैमर और फ़ैशन में, समाज का बाज़ार में, व्यक्ति का अनुव्यक्ति में, मुक्ति का मुक्त व्यापार में और परंपरा का शाश्वत वर्तमान में हो चुका है। भारत जितना बाज़ारू ढंग से दमक रहा है उतना ही वह असहिष्णुता और हिंसा से भी दमक रहा है। दूसरों के लिए जगह बनाने या देने में हमारा संकोच बढ़ रहा है। ज्ञान में पश्चिम की कुलीगिरी करने में हमें कोई शर्म का अहसास नहीं होता। स्वयं अपने इतिहास में अब हम शायद सबसे नकलची युग हैं।

इस निराश करने वाले परिदृश्य में हम साहित्य की कुछ जगह खोजने की कोशिश करते हैं। सबसे पहले तो यह कि जैसे राजनीति/धर्म/विज्ञान आदि के अपने-अपने पक्ष हैं वैसे ही साहित्य का भी अपना पक्ष है। जीवन में आस्वाद, रस और आनंद खोजना-बढ़ाना उसका सौंदर्यमूलक पक्ष है। हमें वृहत् और विराट् से जोड़ने और स्पंदित करने का उसका आध्यात्मिक पक्ष है। समता, स्वतंत्रता और न्याय पर ज़िद करने वाला, उनके लिए एक तरह से लगातार सत्याग्रह करनेवाला उसका लोकतांत्रिक पक्ष है। ज्ञान और अनुभव के विखंडन और विशेषीकरण के बरक्स उसकी समग्रता और संग्रथन पर आग्रह करनेवाला उसका बौद्धिक पक्ष है। भाषा को उसके विविध रूपों में सक्रिय-सजीव रखने का उसका सामाजिक पक्ष है। साहित्य निष्पक्ष व्यापार नहीं है, न ही वह तटस्थ रहता है—उसकी अपनी पक्षधरता है।

साहित्य जीवन की समग्रता, बहुलता, उसकी अपर्याप्तताओं और अंतर्विरोधों का, उसके अधूरेपन और संपूर्णता की आकांक्षा का उत्सव मनाता है। वह किसी एक आवाज़ या अनुभव या दृष्टि का वर्चस्व स्वीकार नहीं करता। वह कई लेकिन अद्वितीय आवाज़ों द्वारा सच और सच्चाई की बहुलता पर इसरार करता है। उसका नैतिक अधिकार और आभा इस बात से आते हैं कि वह लगातार अपने पर, अपने माध्यम की अर्थवत्ता पर और अपने सच पर संदेह करता है। हमारे एक कवि अज्ञेय ने, जिनकी जन्मशती इन दिनों मनाई जा रही है, कहा है—'मैं सच लिखता हूँ/लिखकर सब झूठा करता जाता हूँ।' धर्म या विज्ञान या राजनीति हमारे समय में ऐसा आत्मसंदेह ग्रस्त करता हो इसका बहुत कम प्रमाण देखने को मिलता है। उलटे उनमें से हरेक यह मानता है कि सच पर उसका न सिर्फ़ मौरूसी हक बल्कि एकाधिकार है। साहित्य का सच खुला और वैध्य होता है। बल्कि कई मायनों में अधूरा सच होता है—जब तक पाठक या रसिक उसमें थोड़ा-सा अपना सच न मिलाएँ तब तक वह पूरा नहीं होता। साहित्य की इतनी सारी व्याख्याएँ इसी प्रक्रिया के कारण संभव होती हैं। साहित्यिक सच ऐसा सच भी है जो न सिर्फ़ अपने में दूसरे को हिस्सेदार बनाता है बल्कि दूसरे में स्वयं अपना सच रचने-पहचानने का उत्साह भी उपजाता

है। जो अपने ऊपर शक करता है उसे ही यह हक है कि वह दूसरों पर शक कर सके। जो अपने को प्रश्नांकित करता है उसे ही यह अधिकार है कि वह दूसरों को प्रश्नांकित करे। साहित्य वह जगह है जहाँ समाज, राजनीति, धर्म, व्यक्ति, व्यवस्था, मान्यता, नैतिकता आदि सब प्रश्नांकन के घेरे में आते हैं। वह इस समय संसार की सबसे खुली और लोकतांत्रिक प्रश्नभूमि है। ऐसा प्रश्नांकन समाजविज्ञान और दर्शन जैसे गिने-चुने अनुशासनों को छोड़कर बाकी से गायब हो चुका है। साहित्य हमें, साथ ही साथ, बार-बार याद दिलाता है कि फ़ैसला मत दो क्योंकि तुम पर भी फ़ैसला दिया जायेगा। साहित्य का परिसर सहानुभूति का परिसर होता है–निर्णय का बाड़ा नहीं। यह नहीं कि उसे सही-गलत की पहचान या समझ नहीं होती। यही कि नैतिक बुद्धि उसे बराबर इस संभावना की ओर उन्मुख रखती है कि हो सकता कि सही का विलोम भी सही हो। वैसे भी ऑस्कर वाइल्ड ने इसरार किया था कि कलात्मक सच वह है जिसका विलोम भी सच होता है। यह इकहरी और सपाट समझ के बजाय अधिक जटिल समझ का आग्रह है।

हम अक्सर मनुष्यता या समाज को समझने और विश्लेषित करने के लिए कई तरह के वर्गीकरण करते हैं–सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक, राजनैतिक, विचारधारात्मक आदि। साहित्य इन सबसे परे सकल-समग्र मानवीयता की खोज करता है, अपनी उत्कट सघनता, अपनी तात्कालिक और अंतवर्ती समग्रता में। उसके लिए सब कुछ एक साथ है–मनुष्य, उसका समाज, उसका अंतर्लोक, उसका ब्रह्मांड। वह अधिकतर विश्लेषण नहीं करता–उसका काम संश्लेषण का है।

जिस समय में हम विराट् सामान्यीकरणों और सरलीकरणों के घटाटोप से घिरे हैं, साहित्य उनका प्रतिरोध करता है। वह उनके विरुद्ध एक तरह की सिविल नाफ़रमानी है। वह हर तरह की तानाशाही का, फिर वह बाज़ार की हो या विचार की, सत्ता की हो या धर्म की, प्रतिरोध है। वह एक ऐसा अनुशासन भी है जो स्वयं अपने सच की कोई सत्ता स्थापित नहीं करता। वह निरंतर अपने को वैध्य रखता है। दूसरी ओर, वह सच की कोई वर्णव्यवस्था भी स्थापित नहीं होने देता। साहित्य में छोटे-से-छोटे सच को भी खराब न होने दिया जाये, इसका जतन किया जाता है। इस अर्थ में वह मनुष्य का सबसे पुराना और टिकाऊ जनतंत्र है कि उसमें ऊँच-नीच का कोई भाव नहीं है और एक तरह की अपार सम्यकता और समानता सबको सुलभ है।

साहित्य हमें अकेलेपन का अवसर भी देता है लेकिन ऐसे कि हम दूसरों से कट न जाएँ। वह जिस एकांत में हमें जब-तब ले जाता है उसमें दूसरे कई बार अपनी अनुपस्थिति से भी उपस्थित रहते हैं। दरअसल हर समय साहित्य की सीधी-सी सीख यही है कि हम अकेले नहीं हैं, कि दूसरे हैं और साथ हैं। साहित्य साहचर्य का मामला है–हम हैं क्योंकि दूसरे हैं और हमारी साझा नियति और मुक्ति है। वह हमें यह भी बताता रहता है कि दूसरे भी हम जैसे ही हैं और यह कि दूसरे न होते तो हम भी न होते और हम

और दूसरे मिलकर ही यह दुनिया बनाते-बिगाड़ते हैं।

एक स्तर पर साहित्य हमारे क्षीण और शिथिल पड़ते ब्रह्मांड-बोध को भी सक्रिय रखता है—वह जो नहीं दिखता या पकड़ में आता उससे भी हमें जोड़ता और संवाद-रत कराता है। वह हमें, इस तरह भी, सँकरेपन और आत्मरति की जकड़बंदी से मुक्त करता है। हम महसूस कर पाते हैं कि पृथ्वी, आकाश, आकाशगंगाएँ, चंद्र और दिवाकर, सागर और नदियाँ, पक्षीगण, वृक्ष और लताएँ, अग्नि, जल, वायु आदि सब हमारे संसार का ज़रूरी और सुंदर अंग हैं और हमारे होने में इन सबकी निर्णायक भूमिका है। हमें सिर्फ़ हमारा समाज भर नहीं रचता, समूचा ब्रह्मांड उसमें कुछ-न-कुछ योगदान करता है। हम एक तुच्छ घटना नहीं हैं—हम स्वयं ब्रह्माण्ड के लिए आश्चर्य हैं। यह हमारे सीमित भौतिक-मानसिक जीवन को विराटता का आयाम देता है। एक ऐसे समय में जब इतनी सारी शक्तियाँ हमारी तुच्छता उजागर करने में जी-जान से व्यस्त हैं, साहित्य उनसे बिलकुल अलग कुछ उदात्त करता है।

साहित्य सदियों से मनुष्य की स्वप्नभूमि रहा है। मंगल और विराट के, उदात्त और विशाल के अनेक सपने सबसे पहले साहित्य में ही देखे गए थे—हमारे वेदों और महाकाव्यों में इसका विपुल साक्ष्य मिलता है। हमारे स्वप्नहीन समय में इसका एहतराम करते हुए कि दुर्भाग्य से मनुष्य की अपनी करतूतों की वजह से अनेक महान स्वप्न इतिहास के धूरे पर पड़े हैं या दु:स्वप्नों में बदल गए हैं, साहित्य इस स्वप्न का दबाव आज दृश्य पर बनाए हुए है कि हम विकल्पहीन नहीं हैं, कि दुनिया बदली और बेहतर की जा सकती है, कि एक ही दृष्टि या विचार या व्यवस्था का वर्चस्व अनिवार्य नहीं है। यह दावा बिना हिचक किया जा सकता है कि साहित्य इस समय उन थोड़ी-सी जगहों में बना है जिनमें सच, विचार और अनुभव की बहुलता और विशिष्टता का सहज सम्मान और विन्यास होता है। शायद यही कारण है कि साहित्य के सच बासी नहीं पड़ते और कालांतर में अतिक्रमित नहीं होते जैसे कि विज्ञान आदि के होते रहते हैं। साहित्य किसी को नहीं बख़्शता, न अपने को, न देवताओं और दुष्टों को, न संतों और धूर्तों को, न नायकों- अधिनायकों-खलनायकों को। यहाँ तक कि वह सब और सुंदरता पर न्याय की ओर से चौकसी करता है। उसके लिए, कम-से-कम अब, स्वतंत्रता-समता-न्याय की मूल्यत्रयी ऐसी है कि उस पर किसी तरह समझौता करने को वह तैयार नहीं। राजनीति प्राय: इन मूल्यों में से किसी की बलि दूसरे बचे मूल्यों के लिए दे सकती है पर साहित्य में यह संभव नहीं होता। इसीलिए साहित्य हमारे समय का अन्त:करण भी है—उसमें जो स्वतंत्रता को बाधित करता है, समता के विरुद्ध जाता है और न्याय से समंजस नहीं है उसके विरुद्ध लगातार आवाज़ उठती रहती है। यह आकस्मिक नहीं है कि साहित्य में शोषित-दलित और शोषण और अन्याय के शिकार लोगों को बराबर जगह दी जाती रही है। जो समाज में नहीं बोल पाते वे साहित्य में मुखर हो सकते हैं। जिसके पास आवाज़ नहीं है या कि उसके लिए अवकाश नहीं है, साहित्य उसे आवाज़ देता है। साहित्य की अदालत में सिर्फ़ आत्माभियोग की

इजाज़त होती है–आप दूसरों पर दोषारोपण नहीं कर सकते, सिर्फ़ अपनी ज़िम्मेदारी–भागीदारी का हलफ़ भर उठा सकते हैं।

भाषाएँ मनुष्य की समृद्ध विरासत का बड़ा मूल्यवान हिस्सा हैं। उनमें हमारी जातीय स्मृतियाँ निबद्ध हैं। उनका संकट में पड़ना हमारी स्मृति के शिथिल पड़ने के बराबर है। साहित्य भाषाओं की इस धनी बहुलता को सक्रिय, सजीव रखता है। वह समाजों को स्मृतिहीन और शब्द- संकोचग्रस्त होने से बचाता है और भाषाओं को उनकी सूक्ष्मता, संवेदनशीलता, कल्पनामयता, जटिलता और विविधता में सक्रिय, रखता है। यह उसका सबसे बड़ा सामाजिक कर्तव्य और योगदान है। दुनिया की सांस्कृतिक विविधता के लिए भाषाओं की सजीव उपस्थिति और सक्रियता बहुत महत्वपूर्ण तत्व है। दुनिया की हज़ारों मातृभाषाओं को बचाने के लिए वैसे ही विश्व–अभियान की ज़रूरत है जैसे कि पर्यावरण के लिए संभव हुआ है।

जो साधारण है, आर्थिक दृष्टि से विपन्न और असमर्थ है उसे राजनीति, बाज़ार के दुरातंक में, हाशिये पर खिसकाती जाती है लेकिन साहित्य में साधारण की महिमा है। पिछली एक सदी का हिंदी साहित्य ऐसी ही महिमा की प्रतिष्ठा का साहित्य रहा है। यह नहीं कि उसने उस महिमा का सिर्फ़ मंडन किया है, वह जानता है कि उसके लिए विकट संघर्ष ज़रूरी है। साहित्य ने यह संघर्ष हमारे यहाँ भक्तिकाल से लेकर आज तक किया है और उसी का नतीजा है कि साधारण आज साहित्य के केंद्र में है। साहित्य हमें अपनी साधारण ज़िंदगी के आशय, अंतर्ध्वनियाँ और महत्त्व समझने में मदद करता है। वह साधारण की गरिमा का भी उद्घाटन करता है। उसके संघर्ष, उसके अंतर्विरोधों और विडंबनाओं का भी। आज जब राजनीति, बाज़ार, मीडिया आदि सभी साधारण को दबाने–बरकाने और हाशिये पर फेंकने पर आमादा हैं, साधारण का लगभग एकमात्र शरण्य साहित्य है। यह उसका असली राजनैतिक रोल है। बल्कि यह कहना अनुचित न होगा कि आज साहित्य बाज़ारू राजनीति का असली और साहसिक प्रतिपक्ष है।

यह कहा जा सकता है कि आज साहित्य प्रतिरोध की रंगभूमि; निजता और सामाजिकता के बचे रहने की कल्पनाभूमि; विचार को बहिष्कृत करने, प्रबंधन को सब कुछ मानने की व्यवस्था के विरुद्ध रणभूमि; निरंतरता का आकाश; परिवर्तन की वसुंधरा; मानवीय नियति; सफलता–समग्रता, स्थानीयता के साथ सार्वभौमिकता की प्रश्न भूमि; मनुष्य के संसार, समाज, प्रकृति, ब्रह्मांड के अटूट संबंध की बोधभूमि, मनुष्यता की असमाप्य बहुलता की जयभूमि; कलियुग में आत्म की धर्मभूमि है। वह मनुष्य की चरम जिज्ञासाओं का अंतिम अरण्य है।

हम सभी, यानि वे जो साहित्य पढ़ते–गुनते हैं और जिन्हें ज़िंदगी के आपाधापी से अभी भी फ़ुरसत और समय है, जानते हैं कि साहित्य हमें अपने–आप में रहने देकर भी दूसरा बनाता है। जिन्हें हम कतई नहीं जानते उनके लिए हम आँसू बहाते हैं। साहित्य सिर्फ़ दूर से, किसी रामभरोसे टुकुर–टुकुर नहीं देखता, वह 'कबीरा खड़ा बाज़ार में' के अनुरूप बीचों–बीच खड़ा

होता है–हमारे साथ। वह बार-बार हमें जताता है कि मानवता एक शामिलात खाता है और जो कुछ होता है हम उसके लिए ज़िम्मेदार हैं–हम अपने लिए तो ज़िम्मेदार हैं ही दूसरों के लिए भी हमारी ज़िम्मेदारी है। वह हमारे छोटे-छोटे अकिंचन सत्यों को सहेजता है और उन्हें किसी बड़े सच का गुटका या संस्करण बनने या उसमें उनके विलीन हो जाने का प्रतिरोध करता है। मानवीय संबंध हर समय बदलते रहते हैं। हमारे समय में इस बदलाव में तेज़ी आई है। साहित्य अक्सर इन तब्दीलियों का सबसे पहला रजिस्टर होता है। दर्ज़ करने के साथ-साथ वह हमें यह अहसास भी दिलाता है कि सारे बदलाव के बाद भी मनुष्यता के कुछ तत्व हैं जो समयातीत हैं–जैसे प्रेम, करुणा, त्याग, सहानुभूति, सहयोग आदि। साहित्य की बुनियादी नैतिक संवेदना में परिवर्तन के प्रति खुलापन होता है लेकिन वह उसके नैतिक स्थायित्व का दबाव भी बनाए रखता है।

समाज में और मनुष्य के स्वाभाविक प्राकृतिक पर्यावरण में ऐसा बहुत कुछ है और होता रहता है जो खुद बोल नहीं सकता। साहित्य यह ज़िम्मेदारी सदियों से निभा रहा है कि वह इन सभी को वाणी देता है। उसका एक ज़रूरी काम हर समय अलक्षित और अविवक्षित को लक्षित और विवक्षा के दायरे में लाना है। साहित्य के भूगोल में मानवीय संबंध सिर्फ़ मनुष्यों तक महदूद नहीं रहते। वहाँ मनुष्य सिर्फ़ मनुष्य से नहीं, प्रकृति से, पदार्थों और विचारों से, पूर्वजों और देवताओं से, संसार और ब्रह्मांड से जुड़ता, प्रतिकृत होता और संवाद करता है।

साहित्य को दूसरा इतिहास यों ही नहीं कहा गया है। अर्से से इतिहास युद्ध और शांति, विजय और पराजय, राजवंश और सैन्य तथा आर्थिक शक्तियों की उथल-पुथल की गाथा रहा है। इधर उसमें कुछ परिवर्तन आया है–अब लोगों का, नीचे से इतिहास लिखा जाने लगा है हालाँकि विडंबना यह है कि उसको अधिकांश लोगों की भाषाओं में नहीं लिखा-पढ़ा जाता। जो इतिहास से छूट जाता है, उसका जीवंत अनुभव और उत्कृष्ट स्मृति साहित्य में ही सुरक्षित रह पाती है। यह अकारण नहीं है कि जब किसी काल का इतिहास लिखा जाता है और उसमें पर्याप्त पुरातात्विक साक्ष्य नहीं मिलता तो इतिहासकार अन्य स्रोतों की ओर मुड़ते हैं और इनमें एक अनिवार्यत: तत्कालीन साहित्य होता है। यह इसलिए भी कि साहित्य के लिए हमेशा सारी मानवता ही विषय होती है। वह, बिना ऐसा दावा किए, मनुष्यता का दूसरा इतिहास होता है।

अपने आदर्श रूप में साहित्य दूसरों के विचारों का उपनिवेश होने के बजाय अपनी अलग वैचारिक सत्ता रखता है। वह दूसरे क्षेत्रों और अनुशासनों में विकसित विचारों को हिसाब में लेता है, उनसे संवाद और मुठभेड़ करता है और उनमें से जो उसे काम का लगे उसे अपनाता भी है। लेकिन वह स्वयं अपनी वैचारिक दृष्टि अर्जित और प्रस्तुत करता है।

जो लोग अपने जीवन से, दी गयी दुनिया और व्यवस्था से, उन परिवर्तनों से, जो उन पर लाद दिये गए हैं और जिनमें उनकी कोई हिस्सेदारी नहीं रही है, संतुष्ट हैं, साहित्य निश्चय ही उनके किसी काम का नहीं है। जिन्हें लगता है कि

दुनिया में कुछ खास फ़ेरबदल नहीं किया जा सकता और अंततः मानव व्यर्थ हो जाने को अभिशप्त है, साहित्य उनके भी काम का नहीं हो सकता। जिन्हें यह यकीन है कि उनके पास सच और सब कुछ है और जिन्हें कोई अभाव नहीं सालता साहित्य को उनसे भी कुछ कहना नहीं हो सकता। इनके बरक्स जो लोग असंतुष्ट हैं, जिन्हें आत्मा और अन्तःकरण के कई अभाव और भूलें सालते हैं, जो बदलाव और विकल्प की संभावना देख पाते हैं, जिन्हें लगता है कि भाषा पर बेहतर पकड़ उन्हें अधिक सघन-सटीक मनुष्य बनाती है, साहित्य उनको संबोधित है, उन्हें कुछ शक्ति और सेहत, ऊर्जा और बेचैनी, सपने और उत्सुकताएँ दे सकता है। आध्यात्मिक और बौद्धिक रूप से निठल्लों के लिए साहित्य किसी तरह का रामबाण नहीं हो सकता। साहित्य घावों पर मरहम लगा सकता है पर उन्हीं के जिन्हें इसकी पहचान हो कि औरों के भी ज्यादा गहरे घाव हैं, कि हम सभी कभी-न-कभी एक दूसरे को आहत करते हैं, कि घाव हमारी जिजीविषा से भरते हैं, दवा-दारू से नहीं, भले उनसे फ़ौरी तौर पर कुछ राहत मिल जाती हो।

साहित्य मूलतः संसार के प्रति अनुराग से उपजता है। उसका मुख्य प्रभाव हममें इस अनुराग को अधिक गहरा और उत्कट, सार्थक और सूक्ष्म करना होता है। साहित्य हमें सिखाता है कि यह संसार सुंदर है, कि उसे सुंदरतर किया जा सकता है, कि उसकी सुन्दरता में हम सबका बराबरी का हिस्सा है, कि अगर वह हिस्सा हमें नहीं मिल पाया है तो हमें उसकी माँग और कोशिश करनी चाहिए, कि सारे सच कल्पना-प्रसूत होते हैं, कि सच होने के लिए पहले सपना होना चाहिए, कि मनुष्य की नियति मनुष्य के हाथ में है, कि हम सब में हैं और सब हम में हैं और फिर भी हम अकेले हैं, कि हमें एकांत और सामुदायिकता दोनों चाहिए, कि स्वतंत्रता-समता-न्याय के बिना मानवता कभी संपूर्ण नहीं हो सकती, कि हम भले आधे-अधूरे हैं, मनुष्य होने के नाते हम संपूर्णता की आकांक्षा करते हैं, कि अगर हमारी आँखों में आँसू आते हैं तो सहस्रों प्रकाशवर्ष दूर किसी नक्षत्र की आँखें भी पसीज उठती हैं, कि सब कुछ हमारे बस में नहीं है लेकिन बहुत कुछ फिर भी है, कि हमारी प्रश्नवाचकता और उत्सवधर्मिता परस्पर विरोधी नहीं है, कि न सिर्फ़ संसार को समझने-बदलने की एक दृष्टि बल्कि कई दृष्टियाँ हैं, ऐसा ही होना चाहिए। हमें साहित्य चाहिए क्योंकि हमें अपने सांसारिक अनुराग को टिकाऊ, हितकारी और दीर्घकालीन बनाना है। साहित्य के परिसर में हम अधिक देखते, अधिक सुनते, अधिक महसूस करते, अधिक समझते-गुनते हैं। साहित्य में हम, अधिक हम होते हैं।